

## आचार्यश्री महावीरकीर्ति का जीवन-दर्शन : आत्मसाधना से लोकमंगल तक

लेखक:

डॉ. आशीष जैन आचार्य 'शाहगढ़'

(राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त)

महामंत्री, प्राकृत भाषा विकास फाउण्डेशन  
संयुक्त मंत्री – अ. भा. दि. जैन शास्त्रपरिषद्

### ❖ शोध-सार

भारतीय साधना -परंपरा में कुछ व्यक्तित्व ऐसे होते हैं जिनका जीवन किसी सिद्धान्त की व्याख्या नहीं करता , बल्कि स्वयं उस सिद्धान्त का जीवंत प्रमाण बन जाता है। आचार्यश्री 108 महावीरकीर्ति जी महाराज का व्यक्तित्व इसी श्रेणी में आता है। उनका जीवन ज्ञान , तप, त्याग, मौन, संयम, करुणा, अनेकान्त, साहित्य-सृजन और धर्मप्रभावना का समन्वित रूप है। उनके जीवन को केवल एक दिगम्बर जैन आचार्य की जीवनी के रूप में पढ़ना उनके व्यक्तित्व की व्यापकता को सीमित करना होगा। वस्तुतः उनका जीवन इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करता है कि आत्मकल्याण की साधना किस प्रकार लोककल्याण की प्रेरणा बन सकती है।

आचार्यश्री के जीवन की विशेषता यह है कि उनके जीवन और साहित्य में गहरा सामंजस्य दिखाई देता है। बाल्यकाल से जीवमात्र के प्रति करुणा , अल्पायु में श्रावक -धर्म के प्रति दृढ़ता , युवावस्था में ब्रह्मचर्य -व्रत, गृहस्थ जीवन की संभावित सुविधाओं का त्याग , आचार्य आदिशागर अंकलीकर से मुनिदीक्षा, दीर्घकालीन मौन एवं तपश्चर्या, देशव्यापी विहार और विपरीत परिस्थितियों में समताभाव—ये सभी प्रसंग उनके जीवन -दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को उद्घाटित करते हैं। दूसरी ओर धर्मानन्द श्रावकाचार , चतुर्विंशति स्तोत्र , प्रबोधाष्टकम् तथा अन्य उपलब्ध कृतियाँ उनके दार्शनिक एवं सामाजिक चिंतन का लिखित रूप प्रस्तुत करती हैं।

इस शोधलेख का प्रतिपाद्य यह है कि आचार्य महावीरकीर्ति का जीवन -दर्शन चार प्रमुख आधारों पर प्रतिष्ठित है —आत्मशुद्धि, रत्नत्रय, अहिंसा-अनेकान्त और लोकमंगल। उनके लिए धर्म कर्मकाण्ड नहीं, जीवन का परिष्कार है; ज्ञान सूचना नहीं, आत्मबोध का साधन है; तप शरीर को कष्ट देना नहीं, कषायों पर विजय का उपाय है; मौन वाणी का अभाव नहीं, अंतर्मुखी चेतना की सक्रियता है और साहित्य प्रदर्शन नहीं, साधना का सामाजिक विस्तार है।

❖ **बीजशब्द** : आचार्य महावीरकीर्ति , जीवन-दर्शन, आत्मसाधना, रत्नत्रय, अहिंसा, अनेकान्त, श्रावकाचार, तप, मौन, लोकमंगल।

❖ **प्रस्तावना** : जीवन जब दर्शन बन जाता है

दर्शन प्रायः ग्रंथों में खोजा जाता है , परंतु भारतीय परंपरा ने दर्शन की एक दूसरी कसौटी भी स्वीकार की है—दर्शन को कितना जिया गया ? किसी महापुरुष के जीवन की घटनाएँ अपने -आप में इतिहास हो सकती हैं, लेकिन वही घटनाएँ जब किसी सुसंगत मूल्य-दृष्टि की ओर संकेत करने लगती हैं, तब वे दर्शन का रूप ग्रहण कर लेती हैं। आचार्यश्री महावीरकीर्ति का जीवन इसी अर्थ में महत्त्वपूर्ण है। उनका जीवन केवल घटनाओं की श्रृंखला नहीं है ; वह आत्मानुशासन की क्रमशः विकसित होती हुई यात्रा है।

बाल्यकाल की करुणा से लेकर मुनिदीक्षा तक , अध्ययन से लेकर मौन-साधना तक, शास्त्र-रचना से लेकर धर्मप्रभावना तक और उपसर्गों के मध्य समता से लेकर शिष्य -निर्माण तक—उनके जीवन में एक अंतर्धारा निरंतर प्रवाहित होती दिखाई देती है : स्वयं को जीतना और उसी विजय की ज्योति से दूसरों के मार्ग को प्रकाशित करना।

उनकी जीवनी -सामग्री में महापुरुषों के जीवनवृत्त को सुप्त आत्मा को जाग्रत करने वाला सशक्त माध्यम माना गया है। इस दृष्टि से आचार्य महावीरकीर्ति का जीवन केवल अतीत का संस्मरण नहीं, वर्तमान के लिए नैतिक और आध्यात्मिक चुनौती भी है इसलिए इस शोध का मूल प्रश्न यह नहीं है कि आचार्यश्री ने क्या-क्या किया ? बल्कि यह है कि उन्होंने जो किया, उसके पीछे कौन-सी जीवन-दृष्टि सक्रिय थी और वह दृष्टि आज मनुष्य के लिए कितनी उपयोगी है?

❖ **संस्कारभूमि** : महेन्द्र से महावीरकीर्ति तक

आचार्यश्री का जन्म 3 मई 1910 को फिरोजाबाद में रत्नलालजी एवं बूँदा देवी के परिवार में हुआ। वे पाँच भाइयों में तीसरे थे। जन्म के पश्चात् ज्योतिषीय विचार के आधार पर उनका नाम 'महेन्द्र' रखा गया। उपलब्ध सामग्री में उनके भावी व्यक्तित्व के संबंध में भविष्यवाणी -सदृश उल्लेख मिलता है कि वे रत्नत्रय के मार्ग पर चलने वाले , गंभीर, धीर, समतामार्गी और तप से श्रेष्ठ होने वाले व्यक्तित्व बनेंगे किन्तु किसी व्यक्तित्व की वास्तविक महत्ता भविष्यवाणी से नहीं , उसके पुरुषार्थ से सिद्ध होती है। भविष्यवाणी संभावना हो सकती है; चरित्र उसका प्रमाण होता है।

बाल्यकाल से ही उनमें अध्ययन -पिपासा और जीवमात्र के प्रति करुणा के संस्कार विकसित हुए। प्रारंभिक शिक्षा के दौरान ही पशु -पक्षियों तथा दीन -दुःखियों के प्रति सेवा -भाव का उल्लेख

मिलता है। नाली में गिरे एक कुत्ते को बाहर निकालकर उसकी पीड़ा दूर करने की घटना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस घटना को केवल बाल-सुलभ दया कह देना पर्याप्त नहीं होगा। यही संवेदना आगे उनके अहिंसा-दर्शन की व्यावहारिक पृष्ठभूमि बनती दिखाई देती है। आठ वर्ष की अवस्था से श्रावक के कर्तव्यों के पालन की प्रवृत्ति, जल के प्रति सावधानी और दिगम्बर साधुओं के प्रति भक्ति भी उनके बाल्यकालीन संस्कारों की दृढ़ता को दर्शाती है। यहाँ उनके जीवन से एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है—महान साधना अचानक नहीं उतरती; वह छोटे-छोटे संस्कारों से अपना मार्ग बनाती है।

#### ❖ शिक्षा : ज्ञान का विस्तार और दृष्टि का निर्माण

आचार्यश्री ने शास्त्रीय शिक्षा के साथ विविध विषयों का गहन अध्ययन किया। शास्त्री और न्यायतीर्थ जैसी परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने के साथ उन्होंने छन्द , व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, तर्क और आयुर्वेद आदि का अध्ययन किया। यह बहुआयामी अध्ययन उनके जीवन-दर्शन की एक महत्वपूर्ण विशेषता को सामने लाता है — धर्म उनके लिए अज्ञान से बचने का आश्रय नहीं , ज्ञान के विस्तार का माध्यम था। उनकी विद्वत्ता केवल शास्त्र -संग्रह नहीं थी। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, कन्नड़, मराठी आदि भाषाओं के ज्ञान का उल्लेख मिलता है। वे जिस प्रदेश में विहार करते , वहाँ की भाषा में प्रवचन करने का प्रयास करते थे। यहाँ उनकी बहुभाषिकता का मूल्य केवल भाषायी उपलब्धि के रूप में नहीं आँका जाना चाहिए। भाषा उनके लिए ज्ञान की दीवार नहीं , संवाद का द्वार थी। आज जब ज्ञान अपने-अपने वैचारिक खाँचों में कैद होता जा रहा है , आचार्यश्री की यह दृष्टि विशेष रूप से प्रासंगिक है—ज्ञान जितना व्यापक होगा, दृष्टि उतनी ही विनम्र और समावेशी बनने की संभावना रखेगी।

#### ❖ गृहत्याग : सुविधा का नहीं, प्राथमिकताओं का त्याग

युवावस्था में विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार करना और परिवार के आग्रह के सामने अपनी साधनामुखी प्रवृत्ति पर दृढ़ रहना उनके जीवन का निर्णायक मोड़ था। उन्होंने व्यापार के स्थान पर अध्ययन-अध्यापन का मार्ग चुना और सामाजिक संस्थाओं में सेवा करते हुए अपनी भाषा -शैली से समाज को प्रभावित किया। यह प्रसंग त्याग की एक गहरी व्याख्या करता है। त्याग का अर्थ केवल घर छोड़ देना नहीं है। घर छोड़ना अपेक्षाकृत सरल घटना हो सकती है ; घर में उपलब्ध संभावनाओं के बीच अपनी प्राथमिकताओं को आत्मकल्याण की दिशा में मोड़ देना कहीं अधिक कठिन है। बीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने आचार्यकल्प चन्द्रसागरजी महाराज से सप्तम ब्रह्मचर्य -प्रतिमा ग्रहण की। अर्थात् मुनिदीक्षा से पहले ही उनके जीवन में आत्मसंयम का मजबूत आधार तैयार हो चुका था।

#### ❖ दीक्षा : आत्मानुशासन का सार्वजनिक संकल्प

फाल्गुन शुक्ल 11, 1943 को 32 वर्ष की अवस्था में दक्षिण भारत के उद्गाँव , सांगली में आचार्यश्री आदिसागर अंकलीकर से उन्होंने संपूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिगम्बर मुनिदीक्षा ग्रहण की। गुरु ने अपनी समाधि से पूर्व ही आचार्य -पद उन्हें सौंप दिया था और उसी वर्ष उन्हें आचार्य -पद प्राप्त हुआ। यह घटना केवल पद -परिवर्तन नहीं थी। गृहस्थ महेन्द्र से मुनि महावीरकीर्ति और फिर आचार्य महावीरकीर्ति बनने की यात्रा में व्यक्ति का दायित्व निरंतर विस्तृत होता गया। दीक्षा आत्मकेन्द्रित प्रतीत हो सकती है , लेकिन सच्ची दीक्षा आत्मकेन्द्रित नहीं होती। वह व्यक्ति को अपने से बाहर भी उत्तरदायी बनाती है। आचार्य बनने के बाद उनके जीवन का विस्तार इसी तथ्य का प्रमाण है।

#### ❖ विहार : स्थिर साधु की गतिशील साधना

आचार्यश्री ने चतुर्विध संघ के साथ भारत के अनेक प्रदेशों में विहार किया —महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मालवा, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश, बंगाल, बिहार आदि में धर्मप्रभावना की। 1942 से 1971 तक लगभग तीस चातुर्मासों का उल्लेख उपलब्ध सामग्री में मिलता है। यहाँ एक रोचक विरोधाभास है—साधना भीतर की यात्रा है, लेकिन आचार्यश्री ने उस भीतर की यात्रा को बाहर की यात्रा के माध्यम से समाज तक पहुँचाया। उनका विहार पर्यटन नहीं था ; वह धर्मसंवाद था। निकटवर्ती क्षेत्रों में प्रवचन , धर्मोपदेश और जनकल्याण के माध्यम से उन्होंने धर्म को ग्रन्थों से निकालकर जीवन के बीच स्थापित किया। धर्म यदि केवल ग्रंथालय में सुरक्षित रह जाए तो वह ज्ञान हो सकता है, लेकिन जीवन को बदलने वाला धर्म तभी है जब वह मनुष्य की दिनचर्या में प्रवेश करे।

#### ❖ मौन : वाणी की अनुपस्थिति नहीं, चेतना की उपस्थिति

आचार्यश्री की साधना का अत्यंत प्रभावशाली पक्ष उनका मौन है। वे 24 घंटे में लगभग 21 घंटे मौन-साधना करते थे और आहारचर्या तथा धर्मदेशना के समय ही मौन का उद्घाटन करते थे। मौन को सामान्यतः बोलने की अनुपस्थिति माना जाता है , लेकिन साधक का मौन इससे कहीं गहरा है। बहुत बोलना वाणी की शक्ति हो सकती है ; कब न बोलना है , यह आत्मसंयम की शक्ति है। आचार्यश्री का मौन आत्मनिरीक्षण का माध्यम था। इसी कारण उनकी वाणी जब प्रकट होती थी तो वह केवल शब्द नहीं , साधना से छनकर निकला हुआ अनुभव बन जाती थी। आज के शोर-प्रधान समय में यह जीवन-दृष्टि विशेष अर्थ रखती है। मनुष्य की समस्या यह नहीं कि उसके पास बोलने के लिए शब्द कम हैं; समस्या यह है कि उसके भीतर सुनने के लिए मौन कम है।

#### ❖ तप और उपसर्ग : बाहरी विजय नहीं, आंतरिक विजय

आचार्यश्री के जीवन में अनेक उपसर्गों का वर्णन मिलता है —मधुमक्खियों का उपसर्ग, लाठी का प्रहार, भाले का आक्रमण, साँप द्वारा अंगुली पर काटना आदि। इन परिस्थितियों में भी उनके शांत परिणामों से उपसर्ग सहने का उल्लेख है। इन प्रसंगों का वास्तविक महत्त्व घटना की विचित्रता में नहीं,

प्रतिक्रिया की निर्मलता में है। उपसर्ग शरीर को लक्ष्य करता है ; प्रतिशोध मन को। आचार्यश्री ने पहले को सहा और दूसरे को प्रवेश नहीं करने दिया —यही उनकी साधना का सार है। तप का अर्थ शरीर को पीड़ित करना नहीं, बल्कि कषायों को अपने ऊपर शासन करने से रोकना है इसीलिए उनके जीवन में तप, ध्यान, धैर्य और समता अलग -अलग गुण न रहकर एक ही साधना के परस्पर संबद्ध पक्ष बन जाते हैं।

#### ❖ साहित्य : साधना का शब्दरूप

आचार्यश्री का साहित्यिक कृतित्व उनके जीवन -दर्शन को समझने की सबसे विश्वसनीय कुंजियों में से एक है। उपलब्ध सामग्री के अनुसार उनकी प्रमुख कृतियों में *प्रबोधाष्टकम्, धर्मानन्द श्रावकाचार, चतुर्विंशति स्तोत्र, प्रायश्चित्त-विधान का संस्कृत अनुवाद, शिवपथ का संस्कृत अनुवाद, वचनामृत* और *विशिष्ट उपदेश* सम्मिलित हैं। यह साहित्य उनकी साधना का विकल्प नहीं, उसका विस्तार है। उन्होंने जितना भीतर साधा, उतना ही बाहर लिखा इसलिए उनके साहित्य को केवल विद्वत्ता का प्रमाण मानना अधूरा होगा। वह उनकी साधना की सामाजिक अभिव्यक्ति है।

#### ❖ धर्मानन्द श्रावकाचार : धर्म को जीवन में उतारने का प्रयास

*धर्मानन्द श्रावकाचार* इस संदर्भ में विशेष महत्त्व रखता है। यह ग्रंथ श्रावकाचार की दृष्टि से जैन धर्म के व्यावहारिक पक्ष का विस्तृत विवेचन करता है और दस अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में अहिंसा, रत्नत्रय, मिथ्यात्व, अनुचित आचरण, अभक्ष्य तथा ब्रह्मचर्य आदि विषयों का विवेचन है। दूसरे अध्याय में धर्म, रत्नत्रय, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, कर्म और अहिंसा के दार्शनिक आधारों की चर्चा की गई है। आगे के अध्यायों में हिंसा -अहिंसा, गृहस्थ-कर्तव्य, मूलगुण, अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, सल्लेखना, अतिचार और प्रतिमाओं तक का क्रमबद्ध विवेचन मिलता है। यह क्रम स्वयं एक दर्शन है। पहले दृष्टि को ठीक करना, फिर आचरण को नियंत्रित करना, फिर व्रतों को स्वीकार करना, फिर उनकी रक्षा करना और अंततः आत्मशुद्धि की दिशा में आगे बढ़ना—यह क्रम मनुष्य के नैतिक विकास का व्यावहारिक मॉडल प्रस्तुत करता है इसलिए *धर्मानन्द श्रावकाचार* को केवल श्रावक के नियमों का ग्रंथ कहना उचित नहीं होगा। यह वस्तुतः संयमित जीवन का क्रमिक प्रशिक्षण-पाठ है।

#### ❖ धर्म : कर्मकाण्ड से चरित्र तक

आचार्यश्री के साहित्य का समग्र अध्ययन यह संकेत करता है कि उनके लिए धर्म का वास्तविक मूल्य उसके व्यवहार में उतरने में है।

- यदि ऐसा मानते हैं कि मुझे सम्यग्दर्शन है लेकिन व्यवहार में अहंकार है, तो धर्म अधूरा है।

- यदि ज्ञान है लेकिन संयम नहीं, तो ज्ञान अभी जीवन नहीं बना।
- यदि पूजा है लेकिन जीवदया नहीं, तो पूजा का उद्देश्य पुनर्विचार योग्य है।
- यदि व्रत है लेकिन भीतर कषाय सुरक्षित हैं, तो साधना अभी बाहरी सीमा पर है।

यही कारण है कि धर्मानन्द श्रावकाचार में दर्शन और आचार का क्रमिक संबंध दिखाई देता है। धर्म का अंतिम प्रमाण माथे पर लगा चिह्न नहीं, व्यवहार में दिखाई देने वाला चरित्र है।

#### ❖ अहिंसा : केवल हत्या का निषेध नहीं, संवेदना का विस्तार

आचार्यश्री के जीवन -दर्शन में अहिंसा केंद्रीय मूल्य के रूप में सामने आती है। धर्मानन्द श्रावकाचार में हिंसा के कारण, कषाय, हिंसा के विविध रूप और दया के स्वरूप का विस्तृत विवेचन मिलता है। यहाँ उनके बाल्यकालीन जीवन -प्रसंग और साहित्यिक विचार एक -दूसरे की पुष्टि करते हैं। जिस बालक ने घायल प्राणी को नाली से निकालकर उसकी पीड़ा दूर की, वही आचार्य आगे अहिंसा के दार्शनिक और व्यावहारिक पक्ष को विस्तार देता है इसलिए उनके लिए अहिंसा केवल “न मारना” नहीं है। अहिंसा का सकारात्मक रूप है—दूसरे के दुःख को अपना विषय मानना। आज हिंसा केवल हथियारों से नहीं होती। भाषा हिंसक हो सकती है, विचार हिंसक हो सकते हैं, उपभोग हिंसक हो सकता है और असहमति के प्रति हमारी प्रतिक्रिया भी हिंसक हो सकती है। ऐसे समय में आचार्यश्री की अहिंसा जीवन के प्रत्येक स्तर पर संवेदना की माँग करती है।

#### ❖ अनेकान्त : विचार में विनम्रता का दर्शन

चतुर्विंशति स्तोत्र का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पक्ष अनेकान्तवाद है। उपलब्ध सामग्री में वस्तु के अनेक धर्मात्मक स्वरूप और एकान्त दृष्टि की हेयता का विवेचन मिलता है। ग्रंथ का आरंभ ही “नमोऽनेकान्ताय” की भावना से होता है। अनेकान्त केवल दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है; वह बौद्धिक विनम्रता का अनुशासन भी है। एकान्त कहता है —“सत्य मेरे पास है।” अनेकान्त कहता है —“मेरी दृष्टि सत्य का एक पक्ष देख रही है।” यह अंतर छोटा नहीं है। इसी में संवाद की संभावना और संघर्ष की समाप्ति का बीज छिपा है। आज जब समाज विचारधारात्मक खाँचों में विभाजित है, तब आचार्यश्री का अनेकान्त-दर्शन हमें सिखाता है कि असहमति का अर्थ शत्रुता नहीं और अपनी दृष्टि की स्वीकृति का अर्थ दूसरी दृष्टि का निषेध नहीं। इस दृष्टि से अनेकान्त आज केवल जैन दर्शन का विषय नहीं, सामाजिक सह-अस्तित्व की आवश्यकता भी है।

चतुर्विंशति स्तोत्र संस्कृत में रचित 25 अध्यायों का ग्रंथ है, जिनमें प्रत्येक अध्याय में 25 श्लोक हैं और कुल 625 श्लोक बताए गए हैं। प्रथम अध्याय में 24 तीर्थंकरों की स्तुति के साथ जैन दर्शन के विविध तत्त्वों का विवेचन है। आचार्यश्री इसके दैनिक पारायण का उल्लेख भी उपलब्ध

सामग्री में मिलता है। इस कृति का महत्त्व केवल भक्तिपरक नहीं है। इसमें धर्म , दर्शन, न्याय, तर्क, आगम और सिद्धान्त की चर्चा अनेकान्तात्मक शैली में की गई है। सामग्री में इसे शोध की दृष्टि से संभावनापूर्ण भी माना गया है। अर्थात् आचार्यश्री की भक्ति अंधानुकरण नहीं थी ; भक्ति उनके यहाँ विवेक के साथ चलती है। यही उनके जीवन -दर्शन की एक बड़ी विशेषता है —श्रद्धा और तर्क का संतुलन।

#### ❖ शिष्य-निर्माण : साधना की सबसे बड़ी सामाजिक उपलब्धि

आचार्यश्री के कृतित्व का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उनका शिष्य -परिवार है। अनेक मुनियों , आर्यिकाओं, क्षुल्लकों, क्षुल्लिकाओं और ब्रह्मचारीगण हैं , जिन्हें उन्होंने दीक्षा या व्रत प्रदान किए। किसी आचार्य की महानता केवल इस बात से नहीं आँकी जानी चाहिए कि उसने स्वयं कितना साधा ; यह भी देखा जाना चाहिए कि उसने कितने जीवनों को साधना की दिशा दी। इस अर्थ में शिष्य -निर्माण उनके जीवन -दर्शन का सामाजिक विस्तार था। एक दीपक का मूल्य केवल उसके अपने प्रकाश में नहीं, बल्कि उन दीपकों में भी है जिन्हें उसने प्रज्वलित किया।

#### ❖ चमत्कार से अधिक महत्त्वपूर्ण चरित्र

आचार्यश्री के संबंध में अनेक अतिशयों और चमत्कारों का उल्लेख उपलब्ध सामग्री में मिलता है —संकट का पूर्वाभास , रोग-निवारण, सर्प-विष का प्रभाव शांत होना , पशुओं का शांत व्यवहार आदि किन्तु शोधपरक दृष्टि से इन प्रसंगों का मूल्यांकन करते समय सावधानी आवश्यक है। आस्था-परंपरा में इनका अपना महत्त्व हो सकता है , परंतु आचार्यश्री के जीवन -दर्शन का सबसे विश्वसनीय और प्रेरक आधार उनका तप, संयम, मौन, अध्ययन, उपसर्ग-सहन और समताभाव है। वास्तव में— चमत्कार आकर्षित कर सकता है, चरित्र रूपांतरित करता है। इस दृष्टि से आचार्यश्री के जीवन का सबसे बड़ा “अतिशय” उनका निर्विकार आचरण ही है।

#### ❖ ज्ञान और साधना का समन्वय

आचार्यश्री चारों अनुयोगों से संबंधित शास्त्रों का निरंतर अध्ययन करते थे और उनकी धर्मदेशना में उसका प्रभाव दिखाई देता था। यहाँ उनके व्यक्तित्व की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता सामने आती है —ज्ञान और साधना में कोई द्वंद्व नहीं था। सामान्यतः विद्वत्ता कभी -कभी अहंकार को जन्म देती है और साधना कभी -कभी बौद्धिक संकीर्णता में बदल सकती है। आचार्यश्री का जीवन इन दोनों अतियों के बीच संतुलन का उदाहरण प्रस्तुत करता है। उनके लिए शास्त्र साधना का विकल्प नहीं , साधना का मार्गदर्शक था।

#### ❖ जीवन-दर्शन के मूल सूत्र

समग्र अध्ययन के आधार पर आचार्यश्री महावीरकीर्ति के जीवन -दर्शन को निम्न सूत्रों में संक्षेपित किया जा सकता है—

- **आत्मशुद्धि सर्वोच्च लक्ष्य-** उनके जीवन का केंद्र बाहरी प्रतिष्ठा नहीं, आत्मपरिष्कार था।
- **रत्नत्रय साधना का मेरुदंड -** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उनके चिंतन में परस्पर पूरक हैं।
- **अहिंसा जीवन की संवेदना-** अहिंसा केवल हिंसात्मक कर्म से बचना नहीं, जीवमात्र के प्रति करुणा विकसित करना है।
- **अनेकान्त विचार की विनम्रता -** अपनी दृष्टि को अंतिम सत्य न मानना और दूसरे दृष्टिकोण के अस्तित्व को स्वीकार करना बौद्धिक परिपक्वता है।
- **तप कषाय-विजय है-** तप का लक्ष्य केवल शरीर को साधना नहीं, मन को साधना है।
- **मौन आत्मसंवाद है-** मौन वाणी का निषेध नहीं, चेतना का अनुशासन है।
- **ज्ञान लोकहितकारी होना चाहिए-** बहुभाषिक विद्वत्ता तभी सार्थक है जब ज्ञान समाज तक पहुँचे।
- **साहित्य साधना का विस्तार है-** लेखन उनके लिए आत्मप्रदर्शन नहीं, धर्मबोध और चरित्रनिर्माण का माध्यम था।
- **शिष्य-निर्माण परंपरा का संरक्षण है-** एक साधक की साधना तब सामाजिक शक्ति बनती है जब वह अगली पीढ़ी में संस्कारित होती है।
- **धर्म का लक्ष्य जीवन-परिवर्तन है-** धर्म तभी सार्थक है जब वह दृष्टि, व्यवहार और चरित्र में परिवर्तन लाए।

#### ❖ समकालीन संदर्भ में आचार्य महावीरकीर्ति

आज मनुष्य के पास सूचना पहले से अधिक है, लेकिन आत्मसंवाद कम है। संचार के साधन बढ़े हैं, लेकिन संवाद घटा है। भौतिक संसाधन बढ़े हैं, लेकिन संतोष घटा है। विचारों की संख्या बढ़ी है, लेकिन विचार-सहिष्णुता कम हुई है। धार्मिक प्रतीक बढ़े हैं, लेकिन धार्मिक चरित्र का प्रश्न अभी भी सामने है। ऐसे समय में आचार्य महावीरकीर्ति का जीवन हमें किसी अतीत की ओर लौटने के लिए नहीं, मनुष्य होने की मूल शक्तों की ओर लौटने के लिए प्रेरित करता है।

- उनका मौन हमें आत्मसंवाद सिखाता है।
- उनका तप हमें संयम सिखाता है।
- उनकी अहिंसा हमें संवेदना सिखाती है।
- उनका अनेकान्त हमें सह-अस्तित्व सिखाता है।
- उनकी विद्वत्ता हमें निरंतर अध्ययन सिखाती है।

- उनका साहित्य हमें ज्ञान को समाज तक पहुँचाने की जिम्मेदारी देता है।
- उनका शिष्य-निर्माण हमें बताता है कि अच्छा जीवन केवल अपने लिए नहीं जिया जाता।

और उनका संपूर्ण जीवन एक प्रश्न छोड़ता है — हम धर्म को कितना जानते हैं, यह महत्त्वपूर्ण है; लेकिन धर्म ने हमें कितना बदला, यह उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

#### ❖ उपसंहार : आत्मदीप से लोकदीप तक

आचार्यश्री महावीरकीर्ति का जीवन भारतीय श्रमण परंपरा की उस विराट धारा का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें ज्ञान और आचरण, तप और करुणा, मौन और वाणी, आत्मसाधना और लोकमंगल परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं।

उनके जीवन की शुरुआत जिस बाल -सुलभ करुणा से दिखाई देती है, वह आगे चलकर अहिंसा के दर्शन में विकसित होती है। प्रारंभिक अध्ययन की जिज्ञासा बहुभाषिक विद्वत्ता में रूपांतरित होती है। ब्रह्मचर्य का संकल्प मुनिदीक्षा में परिणत होता है। व्यक्तिगत साधना आचार्य-पद के माध्यम से सामूहिक उत्तरदायित्व ग्रहण करती है। मौन अंतर्मुखी साधना बनता है और साहित्य उसी साधना की सामाजिक अभिव्यक्ति। *धर्मानन्द श्रावकाचार* में श्रावक के व्यवहार से लेकर रत्नत्रय और आत्मशुद्धि तक की यात्रा तथा *चतुर्विंशति स्तोत्र* में भक्ति के साथ अनेकान्त और दार्शनिक विवेचन—इन दोनों को साथ रखकर देखने पर उनका जीवन-दर्शन और अधिक स्पष्ट होता है। उनकी साधना का सबसे बड़ा संदेश शायद यही है कि **आत्मकल्याण और लोककल्याण दो अलग-अलग दिशाएँ नहीं हैं। आत्मा का परिष्कार जितना गहरा होगा, उसका प्रकाश उतना ही दूर तक जाएगा** इसीलिए आचार्य महावीरकीर्ति को केवल एक तपस्वी, विद्वान्, लेखक या आचार्य कह देना उनके व्यक्तित्व को खंडित कर देना होगा। वे इन सभी रूपों का समन्वित व्यक्तित्व थे। उनका जीवन हमें बताता है—

ज्ञान लो, पर अहंकार मत लो।

तप करो, पर कठोरता मत लो।

व्रत लो, पर प्रदर्शन मत लो।

धर्म करो, पर द्वेष मत लो।

विचार रखो, पर एकान्त मत लो।

और जीवन जियो तो ऐसा कि तुम्हारे बाद तुम्हारी स्मृति नहीं , तुम्हारे संस्कार जीवित रहें। यही आचार्यश्री महावीरकीर्ति के जीवन -दर्शन की सार्थक व्याख्या है — आत्मा की ओर लौटना और लौटते हुए समाज को भी प्रकाश देना।

❖ संदर्भ-ग्रंथ सूची -

1. डॉ. उदयचन्द जैन , महावीरकीर्ति-चरियं, प्राच्य विद्या एवं जैन संस्कृति संरक्षण संस्थान , लाडनूँ, 2020।
2. डॉ. लाल बहादुर शास्त्री , श्री आचार्य महावीरकीर्ति स्मृतिग्रंथ, श्री दिगम्बर जैन धर्म प्रचारिणी संस्था , अवागढ़, उ.प्र., 1978।
3. मुनि सुन्दरसागर , आचार्य आदिसागर अंकलीकर परंपरा , प्रबंध-संपादक डॉ . सनतकुमार जैन , पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन पुस्तकालय, भेलूपुर, वाराणसी, 2001।
4. आचार्य महावीरकीर्ति , धर्मानन्द श्रावकाचार , संपादक प्रो . टीकमचन्द जैन , न्यू यूनाइटेड प्रिंटर्स , भूपालपुरा मठ, उदयपुर, 2003।
5. आचार्य महावीरकीर्ति , चतुर्विंशति स्तोत्र , अनुवाद—आर्यिका विजयमती , श्री दि. जैन विजय ग्रंथ समिति, झोटवाड़ा, जयपुर।
6. प्रबोधाष्टकम्।
7. आचार्य महावीरकीर्ति-सम्बन्धी उपलब्ध जीवनवृत्त एवं स्मृति-साहित्य।